

सबलगादी

जुलाई 2023 • मूल्य ₹ 40

समाज, सिनेमा और साम्प्रदायिकता

- मुस्लिम स्त्रियों की मुश्किलें
- भाजपा विरोधी दलों की एकजुटता
- संयुक्त क्रान्ति का नाम था हूल



सबलोग-121

वर्ष 14, अंक 7, जुलाई 2023

ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER-REVIEWED JOURNAL

सम्पादक

किशन कालजयी

संयुक्त सम्पादक

प्रकाश देवकुलिश

राजन अग्रवाल

ब्यूरो

उत्तर प्रदेश : शिवाशंकर पाण्डेय

मध्यप्रदेश : जावेद अनीस

बिहार : कुमार कृष्णन

उत्तराखण्ड : सुप्रिया रतूडी

झारखण्ड : विवेक आर्यन

समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee)

आनन्द कुमार

सुबोध नारायण मालाकार

मणीन्द्र नाथ ठाकुर

आशुतोष

सफदर इमाम कादरी

मधुरेश

आनन्द प्रधान

मंजु रानी सिंह

महादेव टोप्पो

विजय कुमार

आशा

सन्तोष कुमार शुक्ल

अखलाक 'आहन'

प्रबन्ध निदेशक

अभय कुमार झा

सम्पादकीय सम्पर्क

बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,

रोहिणी, दिल्ली-110089

+ 918340436365

sablogmonthly@gmail.com, sablog.in

वेब सहायक : गुलशन कुमार चौधरी

सदस्यता शुल्क

एक अंक : 40 रुपए-वार्षिक : 450 रुपए

द्विवार्षिक : 900 रुपए - आजीवन : 5000 रुपए

सबलोग

खाता संख्या-49480200000045

बैंक ऑफ बड़ौदा, शाखा-बादली, दिल्ली

IFSC-BARB0TRDBAD

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिन्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।

पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिये न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

समाज, सिनेमा और साम्प्रदायिकता

मुनादी / हिन्दी सिनेमा का सच : किशन कालजयी 4

हिन्दी सिनेमा और हमारा समाज : मणीन्द्र नाथ ठाकुर 6

चाहिए सच कहने का साहस : विनोद अनुपम 9

सिनेमा, समाज और साम्प्रदायिक फासीवाद : जवरीमल्ल पारख 12

शब्द, दृश्य और बहुसंख्यकवाद : मृत्युंजय श्रीवास्तव 15

मुस्लिम किरदारों का यथार्थ : रक्षा गीता 17

धर्म और हिन्दी सिनेमा की भाषा : धनंजय राय 20

धर्मपुत्र : साम्प्रदायिकता का सबक : पीयूष कुमार 22

हिन्दी फिल्मों में साम्प्रदायिकता : स्वप्निल श्रीवास्तव 26

हिन्दी फिल्मों में हिन्दू मुस्लिम प्रेम : रश्मि रविजा 28

विवेकहीनता के दौर में : अकबर रिजवी 31

संवाद

अपनी लीक पर हिन्दी सिनेमा

प्रह्लाद अग्रवाल से किशन कालजयी और प्रकाश देवकुलिश की बातचीत

प्रस्तुति : रक्षा गीता 33

सृजनलोक

आठ कविताएँ : मीता दास 37

टिप्पणी : रंजीत वर्मा

राज्य

उत्तर प्रदेश / गले में लटकी सरेंडर की तख्ती : शिवा शंकर पाण्डेय 39

झारखण्ड / राजनीति में जयराम का भविष्य : विवेक आर्यन 41

स्तम्भ

चतुर्दिक / भाजपा विरोधी दलों की एकजुटता : रविभूषण 43

तीसरी घंटी / रंगकर्म की वैकल्पिक संभावनाएँ : राजेश कुमार 46

यत्र-तत्र / पाठ में कविता : जय प्रकाश 49

हाँ और ना के बीच / दिमाग की सीलन : रश्मि रावत 52

विविध

मुद्दा / मुस्लिम स्त्रियों की मुश्किलें : मोहसिना बानो 54

सामयिक / न्याय के लिए पहलवानों का संघर्ष : प्रेम सिंह 57

आदिवासियत / संयुक्त क्रान्ति का नाम था हूल : घनश्याम 59

पर्यावरण / जल संरक्षण से ज्यादा उसकी शुद्धता चुनौतीपूर्ण : स्वप्निल यादव 61

प्रासंगिक / लेखक, पाठक और प्रकाशक का रिश्ता : शैलेन्द्र चौहान 63

पुस्तक समीक्षा / खतरे में लोकतन्त्र का भविष्य : कृष्ण प्रताप सिंह 65

आवरण : शशिकान्त सिंह

अगला अंक : मणिपुर की कहानी

हिन्दी सिनेमा का सच



सिनेमा सम्प्रेषण का एक शक्तिशाली माध्यम है, ऐसा शायद इसलिए भी कि इसमें एक साथ अपने श्रेष्ठ रूप में कई कलाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति है। लेखन, अभिनय, निर्देशन, संगीत-संयोजन, गायन, संवाद-अदायगी, सिनेमेटोग्राफी, साज-सज्जा, वेश-भूषा, दृश्यांकन, एडिटिंग आदि मिलकर इसे एक

आकर्षक विधा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। आज के फिल्मों की खासियत यह हो गयी है कि इसका प्रदर्शन एक ही समय में तमाम सिनेमा घरों और मल्टीप्लेक्सों में सम्भव हो गया है। कहना गलत नहीं होगा कि अब के उच्च तकनीक, व्ही एफ एक्स आदि विशेषताओं ने सिनेमा को जो अद्वितीयता प्रदान की है वह अन्य कला रूपों में दुर्लभ तो है ही, इसका सामाजिक प्रभाव भी सबसे ज्यादा है।

मनोरंजन के ही एक माध्यम के रूप में सिनेमा की शुरुआत हुई थी, शायद इसीलिए आज भी इससे मनोरंजन कर वसूला जाता है। सन् 1931 में बनी 'आलमआरा' पहली ऐसी फिल्म थी जिसमें आवाज थी। 18 वर्षों के मूक फिल्मों के दौर के बाद सच्चे अर्थों में हिन्दी फिल्मों में आवाज दे रही थीं। पहले की तुलना में अब सिनेमा विषय को लेकर ज्यादा सचेत हो गया था।

यही वह दौर था जब अँग्रेजों के शासन को समाप्त करने के लिए भारतीय समाज एकजुट हो रहा था। इस एकजुटता को राजनीतिक स्वरूप देने के लिए पत्रकारिता, साहित्य कला, रंगकर्म और सिनेमा सभी विधाओं की सक्रियता अँग्रेजों के खिलाफ अभिकेन्द्रित थी। राजनीति में जो काम महात्मा गाँधी, लाला लाजपतराय कर रहे थे, साहित्य में वही काम रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिम चन्द्र, प्रेमचन्द्र और सुदर्शन कर रहे थे। यह सिर्फ संयोग नहीं था कि इन्हीं साहित्यकारों की रचनाओं पर उन दिनों फिल्मों भी बन रही थीं।

'शतरंज के खिलाड़ी', 'मंगल पाण्डेय : दि राइजिंग', 'जूनून' और 'झांसी की रानी' जैसी फिल्मों का निर्माण भले भारत की आजादी के बाद हुआ लेकिन इनके कथानक 1857 के आसपास की घटनाओं पर केन्द्रित हैं। 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम (जिसमें हिन्दू मुसलमान एक साथ मिलकर अँग्रेजों से लड़े थे) के बाद ही अँग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच फूट डालने के काम में तेजी लायी। अँग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति कामयाब हुई। भारत और पाकिस्तान बँटवारे के साथ ही आजाद हुए। बँटवारे और दंगे के अवसाद ने दोनों जगह आजादी के जश्न को फीका कर दिया। आजादी के बाद की फिल्मों में नयी दुनिया और नया समाज बनाने का सपना

व्यक्त हुआ है तो विभाजन की त्रासदी से भी यह मुक्त नहीं रही है।

छठे और सातवें दशक में हिन्दी सिनेमा ने सामाजिक मूल्य और रचनात्मकता के सन्दर्भ में नयी ऊँचाई हासिल कर ली थी। दहेज, आवारा, बूटपालिश, जागते रहो, मदर इण्डिया, आनन्द मठ, बैजू बावरा, मुगले-आजम जैसी फिल्मों ने सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं को अपना विषय बनाया। इसलिए यह अकारण नहीं कि एक विशाल दर्शक वर्ग पर हिन्दी सिनेमा का प्रभाव लगातार बढ़ता गया और इसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी बढ़ गयी।

फिल्म निर्माण का ढाँचा ही ऐसा है कि यह पैसे वालों का माध्यम बन गया। इसे दूसरे तरीके से यूँ भी कहा जा सकता है कि चूँकि फिल्म एक सशक्त माध्यम है और इसका प्रभाव और इसकी ताकत अपार है, इसलिए इस पर सत्ता वर्ग और पैसे वालों की नजर पहले से ही रही है। इसलिए यह अनायास नहीं हुआ कि पूँजी और पैसे का वर्चस्व फिल्म पर बढ़ता गया। जान-बूझकर इसे इतना खर्चीला बनाया गया कि यह प्रभु वर्ग के हाथों में ही रहे। नायक नायिकाओं की ऐसी छवि गढ़ी गयी कि उन्हें साधारण मनुष्य की कोटि में रहने ही नहीं दिया गया। जिस देश के सत्तर प्रतिशत लोग बीस रुपये रोजाना पर गुजर करने के लिए विवश हो उस देश में किसी अभिनेता या अभिनेत्री का एक फिल्म का पारिश्रमिक करोड़ों रुपये में हो, यह अन्याय नहीं तो और क्या है? कहते हैं कि इस देश में सबसे अधिक काला धन फिल्मों में और भवन निर्माण के व्यवसाय में लगा हुआ है। अभिनेताओं की जब भगवान की तरह पूजा होने लगे तो जनचेतना पर शक होना स्वाभाविक है।

सिनेमा के सन्दर्भ में यह एक स्वाभाविक सवाल बनता है कि कोई नायक फिल्म से बड़ा क्यों हो जाता है? फिल्म तकनीक का माध्यम है और उसका नियन्त्रण निर्देशक के पास रहता है लेकिन वह जानी जाती है अभिनेताओं के नाम से, दूसरी तरफ नाटक अभिनेताओं का माध्यम है लेकिन वह निर्देशक के नाम से जाना जाता है। दरअसल परदे पर अभिनेताओं की मिथकीय महानायकत्व की जो अभिरचना होती है वह दर्शकों के दिल और दिमाग पर स्थायी घर बना लेती है और ऐसे करोड़ों घरों पर ये नायक राज करते हैं।

पूँजी के प्रभाव और प्रकोप के बावजूद हिन्दी सिनेमा में हमेशा एक धारा ऐसी रही है जो सामाजिक प्रतिबद्धता और सांस्कृतिक मूल्यों से लैश रही है। यह धारा कभी समानान्तर सिनेमा तो कभी नया सिनेमा, कभी कला सिनेमा या प्रतिरोध का सिनेमा के नाम से जानी-पहचानी जाती है। इस सन्दर्भ में 1969 में बनी तीन फिल्मों—भुवनशोम (बनफूल के उपन्यास पर मृणाल सेन द्वारा निर्देशित), सारा आकाश (राजेन्द्र यादव के उपन्यास पर बासु चटर्जी द्वारा निर्देशित) और

उसकी रोटी (मोहन राकेश की कहानी पर मणि कौल द्वारा निर्देशित) का जिक्र जरूरी है। भुवनशोम के पहले मृणाल सेन बांग्ला में कई फिल्मों बना चुके थे। चूँकि मृणाल सेन ने अपने फिल्मी कैरियर की शुरुआत 'कलकत्ता फिल्म स्टूडियो' में बतौर ऑडियो टेक्नीशियन की थी इसलिए फिल्म निर्माण में तकनीकी तौर पर वे ज्यादा दक्ष थे। यह फिल्म बंगाली भद्र समाज में व्याप्त अँग्रेजियत पर चोट करती है। इस फिल्म में अभिनय, छायांकन, सम्पादन और साउण्ड ट्रैक, जिस तरह से सन्तुलित था उसने इस फिल्म को ऐतिहासिक बना दिया। 'फिल्म वित्त निगम' से मिले ऋण से यह फिल्म बनी थी इसलिए इसका बजट भी सामान्य था। लागत, विषयवस्तु, तकनीक और दर्शकों की स्वीकार्यता के सन्दर्भ में यह एक अभूतपूर्व फिल्म थी। इसलिए समानान्तर सिनेमा का इसे प्रस्थान बिन्दु कहा जा सकता है। बाद में श्याम बेनेगल, प्रकाश झा, गौतम घोष और गोविन्द निहलानी जैसे फिल्मकारों ने भी प्रतिबद्ध सिनेमा की दिशा में सार्थक और महत्वपूर्ण फिल्मों का निर्माण किया। दलित चेतना को केन्द्र में रखकर कई फिल्मों में बनी हैं, लेकिन प्रेमचन्द की कहानी 'सद्गति' पर इसी नाम से सत्यजित रे ने 1981 में जो फिल्म बनायी है वह मील का पत्थर साबित हुई है। किसी साहित्यिक कृति के फिल्मी रूपान्तरण का ऐसा सटीक और सुन्दर उदाहरण कोई दूसरा नहीं दिखता।

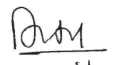
1990 के बाद नयी आर्थिक नीति और राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद के विवाद ने राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य को पूरी तरह से बदल दिया। साहित्य, पत्रकारिता और संस्कृतिकर्म सब पर इसका असर पड़ा। इसके पक्ष और विपक्ष में बुद्धिजीवी भी बँट गये। हिन्दी सिनेमा पर भी इसका असर होना था और वह हुआ। ऐसा नहीं कि विचार, मूल्यों और सामाजिक चेतना की चिन्ता से आज की फिल्में बिल्कुल खाली हैं, आज भी 'भीड़' और 'कटहल' जैसी फिल्में बन रही हैं, जो कम पूँजी की फिल्म होकर भी सन्देश देने का माद्दा रखती हैं; लेकिन पिछले तीन दशकों में देश में आर्थिक विचारधारा और उसके स्वरूप में आए परिवर्तन ने जिस नकली और उपभोक्तावादी समाज का निर्माण किया है, फिल्में उनके प्रभाव से अछूती नहीं हैं। इसलिए आज फिल्मों में समाज को लेकर रचनात्मकता और सौहार्द्र की चिन्ता कम और अपार धन हासिल करने की लालसा और आतुरता ज्यादा दिखती है।

पिछले दो दशकों के अन्तराल में राजनीति के मंडलीकरण और कमंडलीकरण ने जो परिदृश्य बनाया है वह प्रीतिकर नहीं है, इसे सामान्य और समाजोपयोगी बनाने के लिए राजनीतिक और सांस्कृतिक सत्कर्म की घोर आवश्यकता है। क्या इस सन्दर्भ में हिन्दी सिनेमा की दिशा और गम्भीरता पर्याप्त है? 'कश्मीर फाइल्स', 'द केरला स्टोरी' 'अजमेर 92' जैसी फिल्में किस भूमिका का निर्वाह कर रही हैं?

बावजूद इसके कि इन फिल्मों के आधार हमारे अतीत के कड़ुवे और क्रूर सच हैं, हमें सोचना यह चाहिए कि इन सच्चाइयों के उत्खनन से हम कहाँ पहुँचने वाले हैं? कश्मीरी हिन्दुओं के साथ बड़ा अन्याय हुआ इस तथ्य को झुठलाना असम्भव है। कश्मीर फाइल्स दिखाती है कि किस तरह का अन्याय हुआ लेकिन फिल्म यह नहीं बताती कि उस भीषण संकट के समय में कश्मीरी मुसलमानों ने अपने हिन्दू पड़ोसियों की किस तरह से मदद की है? यह नहीं दिखाती कि उग्रवादियों और आतंकवादियों से लोहा लेने में कश्मीर के मुसलमान भी शहीद हुए हैं। सिर्फ अपने राजनीतिक मकसद से सच के एक पहलू का उपयोग कला के उद्देश्य को संकीर्ण बनाता है। ऐसे समय में जब दोनों तरफ की कट्टरता मैदानेजंग है, कला को ज्यादा उदार और कोमल होने की जरूरत है। सामंजस्य और सहजीविता, मेल और भाईचारा वे भाव हैं जो समाज को बाँधे रखते हैं और रचनाधर्मिता का यह दायित्व है कि वह इन्हें विकसित करे।

तमाम विसंगतियों और विडम्बनाओं के बावजूद कुछ बातें हैं जो हिन्दी सिनेमा के पक्ष में हैं और लोकतन्त्र के भी पक्ष में। हाल के दिनों में हिन्दी सिनेमा का द्वार नये और प्रतिभाशाली लोगों के लिए खुल गया है। फिल्मी परिवारों का वर्चस्व टूट रहा है। जिसके परिवार में कभी कोई फिल्मों में नहीं था वह भी अपनी प्रतिभा और मेहनत के बल पर अपनी जगह बना ले रहा है। यह पहले बहुत मुश्किल था। दूसरी बात यह हुई है कि आधुनिक टेक्नोलॉजी इस कदर खुली हुई है कि वहाँ तक किसी की भी पहुँच हो सकती है। पहले की तुलना में फिल्म तकनीक थोड़ी सरल और सस्ती हुई है। अब फिल्म बनाना पहले की तरह कठिन नहीं है। किसी ऐसे अछूते विषय पर दस मिनट की डॉक्यूमेंट्री फिल्म बनाकर कोई यू-ट्यूब पर अपलोड कर दे तो पल भर में करोड़ों लोगों तक फिल्म का सन्देश पहुँच सकता है। लेकिन इस तरह के काम के लिए जो निष्ठा और नैतिक बल चाहिए उसे बाजार बढ़ने नहीं दे रहा है। यह बात जगजाहिर है कि लोकतन्त्र भी बाजार के नियन्त्रण में है। बाजार तो यही चाहता है कि कोई मनुष्य और नागरिक नहीं रहे, सारा संसार उपभोक्ता बन जाए। तो क्या हम बाजार की तानाशाही कबूल कर लें?

इसके पहले कि उपभोक्तावाद पूरी तरह से मनुष्यता को मिटा दे हमें विचार पर बाजार के हमले को रोकना होगा। और यह काम वैचारिक चेतना को फैलाए बिना सम्भव नहीं है। विचार को फैलाने के लिए सिनेमा से ज्यादा सटीक और शक्तिशाली माध्यम कोई दूसरा नहीं है। पिछले सौ वर्षों में सिनेमा सम्प्रेषण का एक मुकम्मल माध्यम बन चुका है। लेकिन इस सिनेमा का इस्तेमाल हम बाजार के बजाय मनुष्यता और लोकतन्त्र के पक्ष में करें, इसके लिए क्या हम तैयार हैं? अगर नहीं तो यह तैयारी कितने दिनों में और कैसे होगी?



(किशन कालजयी)